International Research Journal of Humanities, Language and Literature
ISSN: (2394-1642)
Impact Factor 6.972 Volume 9, Issue 5,May 2022
Association of Academic Researchers and Faculties (AARF)
Website-www.aarf.asia, Email : editor@aarf.asia , editoraarf@gmail.com

प्राचीन भारत की सामाजिक व्यवस्थाः;धर्म एवम् जाति के विशेष संदर्भ में)

Dr. Ashok Kumar Yadav, Associate Professor in Political Science Government College, Rewari.Haryana

इस अध्ययन में हम प्राचीन भारतीय राज्य की सामाजिक व्यवस्था का धर्म व जाति के आधार पर अध्ययन करेंगे।

• **धर्म व राज्य का सम्बन्ध** : प्राचीन भारत की शासन संस्थाओं और राजनीतिक विचारों का आधार 'धर्म' था। यह एक अकाट्य सत्य है कि प्राचीन भारत में राजनीति का सर्वप्रमुख आधार धर्म ही था। अतः धर्म और राजनीति एक दूसरे से किसी भी क्षेत्र में पृथक न थे। इस दृष्टि से प्राचीन भारतीय राजनीति, आधुनिक राजनीति से पूर्णतया भिन्न थी। हमारे पूर्वजों ने धर्म को ही सर्वोपरि सत्ता माना और जीवन के प्रत्येक कार्य को धर्म से सुशासित रखा। प्राचीन भारत में राजा धर्म से बंधा था तथा राजा का व्यक्तिगत जीवन और उसकी दिनचर्या धर्म से विनयमित थे। परिजन तथा पुरजन, यहाँ तक कि शत्रु के साथ भी उसका संबंध धर्म के आधार पर था और युद्ध-विषयक नीति भी धर्म निर्दिष्ट थी। केवल राजा ही नहीं प्रजा भी अपने व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में सदा ही धर्म का पालन करती थी।

भीष्म ने धर्म की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'धर्म' शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है धारण करना। अभ्युदय, अपीड़न और धारण अर्थात् संरक्षण जिस उपाय से हो, वही धर्म है। धर्म के तीन मुख्य पहलु थे वर्णधर्म, आश्रमधर्म और नैतिकता। 'महाभारत' में कहा गया है 'धर्मस्थ शीलमेवादी' अर्थात् 'शील ही धर्म का कारण है।' शील से ही तीनों लोक जय किये जा सकते हैं, इस लोक में शीलवान् मनुष्यों के लिए कोई भी कार्य असाध्य नहीं। महर्षि कणाद के मतानुसार - 'यतोऽभ्युदयनिः श्रेय समिद्धिः सधर्मः अर्थात् 'जिससे अभ्युदय (लौकिक उन्नति) और निःश्रेयस (पार-लौकिक उन्नति) हो वही धर्म है।' श्रीमद् भगवद् गीता के अनुसार यज्ञ, दान एवं तप-रूप कर्म ही धर्म है। संक्षेप में, जिससे समस्त प्राणियों का संरक्षण तथा उन्नति होती है वही धर्म है। दूसरे शब्दों में, जिससे सम्पूर्ण समाज का पूर्ण व सर्वांगीण विकास हो वही धर्म है।

© Association of Academic Researchers and Faculties (AARF)
A Monthly Double-Blind Peer Reviewed Refereed Open Access International e-Journal - Included in the International Serial Directories.

भारतीय मनीषियों ने व्यक्ति और समाज दोनों को पूर्णता एवं अभ्युदय हेतु स्वधर्म-पालन अर्थात् वर्णाश्रम धर्म पर विशेष बल दिया। 'महाभारत' में भीष्म ने स्वधर्म की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि चारों वर्णों के धर्म की रक्षा करना राजा का मुख्य कर्त्तव्य है, क्योंकि धर्म संकट होने से (अन्य के धर्म का अनुसरण करने से) प्रजा को बचाना राजा का धर्म है दूसरे स्थान पर यह भी कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति धर्म मार्ग से विचलित हो तो उसे दण्ड देना भी राजा का कर्त्तव्य है। कौटिल्य ने भी कहा है- 'स्वधर्म पालन से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है, स्वधर्म के उल्लंघन से सर्वथा अव्यवस्था उत्पन्न हो जायेगी; अतः राजा को चाहिए कि वह प्रजा को स्वधर्म का अतिक्रमण न करने दे'। शुक्रनीति में भी कहा गया है कि राजदण्ड के भय से समस्त जन अपने-अपने धर्म में तत्पर रहते हैं। राजा के लिए आवश्यक है कि वह प्रजा को स्वधर्म में निरत रखे। इसी कारण राजा को 'धृतव्रत' कहा गया। यहाँ यह भी कहना उचित होगा कि यद्यपि प्राचीन भारत में राजा को शासन की सर्वोच्च सत्ता प्राप्त थी, फिर भी वह स्वयं धर्म के अधीन था। राधा कुमुद मुकर्जी ने सत्य ही कहा है - 'हिन्दू विचारों के अनुसार विधि के शासन के रूप में धर्म राज्य का सच्चा प्रभु है।'1

घोषाल के अनुसार प्राचीन भारतीय विचारकों की एक आधारभूत (मूल) धारणा स्मृतियों में प्रतिपादित सामाजिक व्यवस्था में धर्म की सर्वोपरिता का सिद्धान्त था। स्मृतियों मे कहा गया है कि स्थूल रूप में धर्म सामाजिक पद्धति की इकाइयों के लिए विहित कर्त्तव्यों की सम्पूर्ण योजना है जिसे वेदों, पवित्र परम्पराओं और प्रथाओं से लिया गया है। स्मृतियों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का प्रभाव समान्तर विचार पद्धतियों में देखा जा सकता है। राजशास्त्र पर लिखे गये प्रविधिक ग्रन्थों में उनके लेखकों- कौटिल्य और कामन्दक आदि ने स्मृतियों के सिद्धान्त को ही अपनाया है और धार्मिक नियमों (Canons) एवं प्रथाओं को कानून का स्त्रोत माना है।2 यद्यपि कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राज्य के हित में ऐसी कूटनीति का प्रतिपादन किया है, जिसके अध्ययन से स्पष्ट पता लगता है कि राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कभी-कभी नैतिकता को त्यागना पड़ सकता है, फिर भी वह यह मानता है कि दण्डनीति (राजनीति) वह विज्ञान है जिससे मनुष्य के सांसारिक ध्येयों की पूर्ति अथवा प्राप्ति होती है तथा राज्य का अन्तिम ध्येय मनुष्य के पूर्ण जीवन को प्राप्त करना है अर्थात् उसे इस जीवन में धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति में पूर्ण योगदान देना है। ऐसे ही शुक्र ने राजनीति को नैतिकता से पृथक किया है, किन्तु वह यह भी कहता है कि राजा के शासन का सिद्धान्त औचित्य तथा नैतिकता रहना चाहिए।

चूँकि प्राचीन भारतीयों का झुकाव धर्म की ओर था, अतः यह स्वाभाविक ही है कि उनका राजनीतिक जीवन धर्म से मिश्रित था अथवा उनके राजनीतिक जीवन के मुख्य पहलू धार्मिक थे। यर्थात् में प्राचीन भारतीयों का राजनीतिक जीवन अधिकांशतः धार्मिक भावनाओं एवं रूपों से मिश्रित था। यह बात मुख्य रूप से (एन. एन. लॉ के अनुसार) इन तीन बातों में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है प्रथम- राजा व उसके आदर्श, राज्य और

राजा तथा प्रजा के बीच सम्बन्धों के विषय में उनकी धारणाएँ। दूसरे- राज्य के कल्याण के प्रोत्साहन हेतु, जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से राजा के कल्याण द्वारा ही सम्भव था, किये जाने वाले कम महत्त्व के कर्मकाण्ड और यज्ञः। तीसरे- सम्राट, राजा, युवराज और राज्याधिकारियों द्वारा अपने पदों के धारण करते समय तथा अन्य अवसरों पर किये जाने वाले राजनीतिक, धार्मिक यज्ञ व समारोह।3

राजपुरोहित का मुख्य कर्त्तव्य विभिन्न प्रकार के साधारण धार्मिक कृत्य व कर्म-काण्ड कराना था। अनेक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रतिदिन छोटे और कम महत्त्व के यज्ञ कराये जाते थे, यथा समृद्धि और शांति की प्राप्ति के लिए, दीर्घ जीवन के लिए, त्यौहारों पर, युद्ध के लिए कूच करने पर, शत्रु सेना पर विजयी पाने के लिए, युद्ध में विजय हेतु आदि। बड़े राजनीतिक व धार्मिक यज्ञों में राजसूय, वाजपेय, अश्वमेघ आदि यज्ञ थे। राज्य के प्रायः सभी कार्यों में विभिन्न प्रकार के पदों पर नियुक्ति, न्याय, प्रशासन और कर प्रशासन में वर्ण व्यवस्था का अति महत्त्वपूर्ण भाग था। पूर्वोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत की राजशास्त्र के विकास में सबसे महत्त्वपूर्ण देने धर्ममय्य अथवा धर्म पर आधारित राजनीति कही जा सकती है। राज्य सम्बन्धी सिद्धान्तों में केन्द्रीय स्थान धर्म आरक्षित था। राज्य को उसी मात्रा तक अच्छा या बुरा माना जाता था जहाँ तक वह धर्म के पालन और अभिवृद्धि में सहायक होता था। सोमदेव सूरी के 'नीतिवाक्यामृत' के प्रथम सूत्र में ही कहा गया है। 'अस्य धर्मार्थ लाभाय राज्याय नमः ।' लेखक राज्य को नमस्कार करता है जो कि धर्म और लाभ का साधक है अतएव राज्य का ध्येय केवल धर्म का पालन ही नहीं वरन् लौकिक सुख और आर्थिक कल्याण की प्राप्ति भी था।

उपरोक्त अध्ययन से प्राचीन भारतीय राज्यों में धर्म का राज्य के साथ सम्बन्धों का ज्ञान प्राप्त होता है किन्तु यह नितान्त एक पक्षीय है। राज्य व धर्म के संबंधों का एक दूसरा पक्ष भी है, जिस पर बी. के. सरकार ने संक्षिप्त रूप में प्रकाश डाला, उनका कथन है कि 'हिन्दू राज्य पूर्णतया धर्म-निरपेक्ष थे।' भारत में यह मत कुछ पूर्व वर्णित विचारों का विराधी सा लगता है। धर्म ने राजनीति, इतिहास व दर्शन पर कभी भी प्रभुत्ता नहीं रखी। राजनीति अनिवार्यतः धर्मशास्त्र से स्वतन्त्र थी, न ही पुरोहित वर्ग अधिकार के रूप में नागरिक प्रशासन में हस्तक्षेप करता था। अर्थशास्त्रों और नीतिशास्त्रों ने लौकिक अथवा धर्म निरपेक्ष परम्परा का समर्थन किया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र, शुक्रनीति, कामन्दकीय नीतिसार आदि ग्रन्थों के आधार पर यह नहीं माना जा सकता कि प्राचीन भारतीय राज्य धर्म निगडित थे अथवा धर्मतन्त्र में विश्वास करते थे, यद्यपि सामाजिक व राजनीतिक मामलों में धर्म का महत्त्व पूर्ण स्थान था।

इस सारे विवरण से हम अन्त में यही कह सकते हैं कि प्राचीन भारतीय राज्य यद्यपि धर्म से घनिष्ट रूप से सम्बंधित था। किन्तु ये कहीं ना कहीं एक दूसरे से अलग भी थे और जब कभी आवश्यक हुआ राज्य ने धर्म से अलग हटकर भी कार्य किये और अनेक अवसरों पर धर्म द्वारा राज्य के निर्देशित होने के भी प्रमाण मिलते

हैं। अतः दोनों में से किसी ने भी एक दूसरे का अनावश्यक अतिक्रमण नहीं किया और एक ही वस्तु के दो पहलु, इन्हें इस काल के सन्दर्भ में कहा जा सकता है।

• प्राचीन भारतीय राज्य व सामाजिक व्यवस्था: प्राचीन भारत में सामाजिक व्यवस्था या प्राचीन भारत में राजसत्ता व समाज में सम्बन्धों का अध्ययन अग्र शीर्षकों के अन्तर्गत करेंगे -

1. वैदिककालीन समाज;
2. महाकाव्य काल में सामाजिक व्यवस्था;
3. बौद्धकालीन सामाजिक व्यवस्था;
4. मौर्यकालीन सामाजिक व्यवस्था;
5. स्मृतियाँ और उनका परवर्ती समाज;
6. स्मृतियों के बाद की समाज व्यवस्था;

1. वैदिककाल में समाजिक व्यवस्था व राजसत्ता: इस काल में समाज में जाति का राज्य-शक्ति के उदय में केवल महत्त्वपूर्ण भाग ही नहीं रहा, वरन् उसने उसके विकास की विभिन्न मंजिलों की दशाऐं निर्धारित की और उसके अंगों तथा कानूनों के ढालने में योग दिया। लगभग आधे दर्जन पुराणों में यह वर्णन है कि यद्यपि विभिन्न वर्णों के कर्त्तव्य निर्धारित कर दिये गये थे, उन्होंने अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं किया। अतः उनमें पारस्परिक संर्घष हुए। ऐसी अवस्था का अन्त करने के लिए ब्रह्मा ने दण्ड और युद्धों को क्षत्रियों के व्यवसाय रूप में निहित किया। ब्राह्मणों द्वारा रचित सभी ग्रन्थों में धर्मशास्त्रियों से लेकर अर्थशास्त्र से आगे तक राज्य के अध्यक्ष के कार्यों में सबसे अधिक बल वर्ण पर आधारित सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने पर दिया गया है। शांतिपर्व में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जाति या सामाजिक वर्ग से संबंधित कर्त्तव्य क्षात्र धर्म (राजशक्ति) पर निर्भर करते हैं। कौटिल्य के अनुसार- 'राजा, धर्म का प्रख्यापक होने के नाते, चतुर्वर्गीय जाति व्यवस्था की रक्षा करता है।' मनु कहता है कि - 'राज्य तभी तक समृद्धिशाली बन सकता है जब तक कि जातियों की शुद्धता को स्थिर रखा जा सके। अशोक ने भी तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था को स्वीकार करके चारों सामाजिक वर्गों में काम करने के लिए अपने अधिकारी नियुक्त किये'।4

जाति कठोरता के साथ इस काल की दूसरी व्यवस्था थी आश्रमों में जीवन का विभाजन। आर्य लोग जीवन को 100 वर्ष मानकर उसको चार आश्रमों में विभाजित करते थे।

इस काल के समाज में परिवार संगठित व सबसे छोटी इकाई था। परिवार 'पितृ-प्रधान' था और सबसे वृद्ध पुरूष परिवार का मुखिया होता था, वैदिक कालीन समाज में स्त्रियों का स्थान बड़ा ही सम्माननीय था और विवाह के लिए स्वयंवर रचाए जाते थे।

इन समाजों की एक विशेषता यज्ञों को अत्याधिक महत्त्व देना भी था। इन समाजों के चार उद्देश्य / पुरुषार्थ थे - धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष।

वैदिक काल में हिन्दू विचारकों का समाजिक व्यवस्था और उसे लागू करने वाले अभिकरण-शासन के बारे में मत स्पष्ट था। इन दोनों पर जोर देने के कारण ही उन्होंने इस बारे में कि राज्य उनसे अलग है किसी विचार का निर्धारण नहीं किया। समाज को मुख्यतः समाज के ही रूप में संगठित किया गया और सरकार उस संगठन का भाग थी जैसे कि आध्यात्मिक पद सोपान। औद्योगिक और वाणिज्यिक तन्त्र समाज के अंग थे। समाज एक पूर्ण वस्तु या विचार था; वहीं संगठन एक ही साथ धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक और सैनिक संगठन था। साधारणतया एक राजनीतिक दृष्टिकोण से देखने की आदत न पैदा की गई। परिणामतः राज्य की धारणा स्पष्ट रूप में विकसित न हुई और सरकार का प्रयोग उस अर्थ में किया गया जिसमें कि आधुनिक काल में 'राज्य' का किया जाता है। चूँकि सरकार सामान्यतया राजतन्त्री थी, अतः राजा, सरकार और राज्य का पर्यायवाची बना। भारतीय समाज में धर्म और राज्य दोनों ही सम्मिलित थे। इसी कारण भारत में लौकिक और धार्मिक शक्तियों के बीच संर्घष नहीं हुआ।5

2. महाकाव्य काल में समाज और राज्यसत्ता :

रामायण:- जीवन के उद्देश्य में बाल्मीकि ने त्रिवर्ग धर्म और काम को ही महत्त्व दिया है। सभी प्रमुख व्यक्ति अपने-अपने धर्म का पालन करते हैं, उनके धर्म का मुख्य आधार सत्य है। राजवर्ग का आचरण सत्य और दया से पूर्ण रहा है, इसलिए राज्य सत्य प्रधान है। सत्य में ही सब लोग मर्यादा में ठहरे हुए हैं। दान, यज्ञ, हवन, अध्ययन, तप और वेद ये सब सत्य में प्रतिष्ठित हैं, इसलिए मनुष्य को सत्य परायण होना चाहिए। तुलसीदास जी ने भी रामायण व प्राचीन ग्रन्थों में प्रतिपादित धर्म अर्थात् वर्णाश्रम धर्म का प्रबल समर्थन किया है। राम का आदर्श धर्म अपनी मर्यादा को बनाये रखना और इस प्रकार जन- मंगल करना है। राम-राज्य का वर्णन करते हुए तुलसीदास जी ने कहा है कि अवधासी धर्म और आश्रम के अनुसार अपने-अपने धर्म का पालन करते हुए देव दुर्लभ सुखों का उपभोग करते हैं।

महाभारत : महाभारत में आरम्भ से अन्त तक सामाजिक व्यवस्था का आधार जाति-व्यवस्था है। सामाजिक व्यवस्था को ठीक प्रकार से चलाने के लिए कार्यों का विभाजन इस प्रकार किया हुआ था कि समाज के सभी अंग पुष्ट हों; स्वस्थ रहें और अपने-अपने कार्यों का अच्छी प्रकार से सम्पादन करें। राजा, राज्य का सर्वोपरि अधिकारी होने के नाते समाज में अच्छी व्यवस्था बनाये रखने के लिए सभी नियमों का पालन कराता था और समाज-राजा, धर्म व नियमों के भय से जल्दी से कोई अनुचित या नियम-विरूद्ध कार्य नहीं करता था। अतः समाजिक दशा को ठीक स्थिति में रखने के लिए सुयोग्य, चरित्रवान, विद्वान और समाजसेवी शासक की आवश्यकता अनुभव की गयी। समाज के सदस्यों के जीवन निर्वाह के लिए राजा स्वयं उद्योगी होगा तो

वह उनको उद्योगी बनाकर समाज के लाभ हेतु उद्योग धन्धे चलवा सकेगा। इसलिए शांतिपर्व में कहा है कि राजा को उद्योगी होना चाहिए। संक्षेप में, सामाजिक व्यवस्था को चलाने के लिए राजा को नियामक माना गया।

उत्तर-वैदिक काल में 600 ई. पू. से आगे, वर्ण अथवा सामाजिक वर्ग का कानून और राजनीति के एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व के रूप में उदय हुआ। वर्ण के विचारों ने, राज्य के विभिन्न अंगों को प्रभावित किया यथा- राजा, मन्त्री अथवा उच्च अधिकारी परिषद्, पौर, जनपद और सेना। यद्यपि इस काल में वर्ण व्यवस्था स्पष्ट तो थी लेकिन आज की तुलना में काफी लचीली थी, अनेक उदाहरणों में भी ब्राह्मणों व क्षत्रियों के सहयोग पर बल दिया गया। यद्यपि यथार्थ राजनीति में कभी क्षत्रीय ऊपर रहे तो कभी ब्राह्मण। परन्तु वैश्यों व शुद्रों के लिए इस प्रकार का कोई साक्ष्य नहीं है।

3. बौद्धकालीन सामाजिक व्यवस्था :जैन तथा बौद्ध धर्मग्रन्थों से भी समाज के प्राचीन चार वर्णों का पता लगता है; किन्तु उनमें जाति व्यवस्था की कटु आलोचना की गयी है। ऐसा भी प्रतीत होता है कि इस काल में क्षत्रीय-ब्राह्मण प्रतिस्पर्धा तीव्र हो गयी थी। शूद्रों की दशा गिरी और वे प्रायः अधिकार विहीन थे। स्त्रियों की दशा भी बहुत अच्छी नहीं थी। उस समय विवाह अधिकांशतः वयस्क अवस्था में ही होते थे, संयोग विवाह निन्दनीय समझे जाते थे। बौद्धकालीन शिक्षा पद्धति साम्प्रदायिकता से काफी प्रभावित थी।

बौद्ध और जैन धर्म,ब्राह्मणों के विशेषाधिकारों के विरूद्ध विद्रोह के प्रतीक हैं। काफी समय तक यह विद्रोह सफल रहा और जाति-व्यवस्था की उन्नति में बाधक बना रहा।

4. मौर्यकालीन सामाजिक व्यवस्था (कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार): मौर्यकाल तक जाति प्रथा काफी अस्थिर रही। कौटिल्य सामाजिक व राज्य के विकास में कभी-कभी समाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त का समर्थन करता प्रतीत होता है। सामाजिक व्यवस्था के लिए राजसत्ता का होना आवश्यक है और उसके बाद वह सत्ताधारी आता है जिसमें राज-शक्ति अथवा दण्ड देने की शक्ति निहित रहती है। कौटिल्य दृढ़ता के साथ वर्णाश्रम व्यवस्था का अनुमोदन करता है और वह कहता है कि धर्म को कठोरता के साथ सामाजिक ढाँचे की रक्षा करनी चाहिए। इस काल में स्त्रियों की दशा के बारे में संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि उन्हें कम से कम आध्यात्मिक दृष्टि से शूद्रों के पद पर ला दिया गया था। बहु-विवाह प्रथा प्रचलित थी, उच्च शिक्षा के स्थान पर स्त्रियों को साधारणतया ललित कलाओं का प्रशिक्षण दिया जाता था। स्त्रियों का यज्ञ में भाग लेने व वेदों के पठन को निषेध कर दिया गया।

5. स्मृतियाँ और उनका परवर्ती समाज :

मनुस्मृति :- मनुस्मृति के अनुसार समाज में स्त्रियों का पद पुरुषों से नीचा है। मनु का कथन है - 'बालपन में स्त्री पिता के अधीन रहे; युवती होने पर पति के अधीन रहे और जब उसके पति का देहान्त हो जाए तो वह अपने पुत्र के अधीन रहे'। इस प्रकार स्त्री कभी भी स्वतन्त्र नहीं रह सकती। परन्तु पिता, पति व पुत्र-पुत्री, पत्नी तथा माता के प्रति अच्छा और उदार व्यवहार करें। जीवन पर्यन्त स्त्री-पुरूष का धर्म, अर्थ और काम विषयक कार्यों में कभी पृथकत्व न हो, यही स्त्री-पुरूष का धर्म है।

विभिन्न जातियों के सदस्यों के बीच बहुधा वैवाहिक सम्बन्ध हो जाते थे। धर्मशास्त्रों के नियमों को राज्य बलपूर्वक लागू न करता था। मनु संहिता में ब्राह्मण को हर बात में सर्वोपरिता प्रदान की गई है, यद्यपि उसके उच्च ज्ञान और योग्यताओं पर भी बल दिया गया है। शिक्षकों, पुरोहितों, न्यायाधीशों, उच्च पदाधिकारियों और धर्म-परिषदों में सदस्यता के उच्च पदों पर ब्राह्मण ही रखे जाते थे। शूद्रों के लिए तो सेवा ही उसका कर्म था। वे धार्मिक संस्कार भी नहीं कर सकते थे और धर्म पुस्तकें भी नहीं सुन सकते थे। परन्तु जाति-पद्धति की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि मिली-जुली शादियों की संख्या बहुत बढ़ गई थी। मनु ने अपने ग्रन्थ में पहले इस सिद्धान्त का विवेचन किया है कि जातियाँ केवल चार हैं, परन्तु बाद में उसने यह भी स्पष्ट किया है कि विभिन्न जातियों के बीच विवाह होने के परिणामस्वरूप अनेक जातियाँ बन गई हैं। उसने संकर और वत्य सिद्धान्तों के द्वारा मिली-जुली जातियों के उद्गम को समझाने का प्रयत्न किया है। उसने वे पेशे भी विहित किये हैं जिनके आधार पर ये जातियाँ जीवन-निर्वाह कर सकती हैं।6

याज्ञवल्क्य स्मृति: याज्ञवल्क्य के मतानुसार भी 'कुमारी की रक्षा पिता करे, विवाहिता होने पर पति, बुढ़ापे में पुत्र और इनमें से कोई न हो तो जाति के लोग रक्षा करें।' 'दाय' विभाग के विषय में उसका कथन है- यदि पिता अपने जीते जी ही अपनी सम्पत्ति का विभाजन करे, तो अपने उपार्जित धन में उसकी इच्छा है चाहे सब को बराबर दे अथवा श्रेष्ठ भाग अर्थात् अधिक ज्येष्ठ पुत्र को देवे। माता और पिता के देहत्याग होने पर सब पुत्र धन और ऋण बराबर लेवें। परन्तु माता का धन उसका ऋण देकर जो बचे सो लड़कियाँ बाँट लेवें, यदि लड़कियाँ न हों तो पुत्र बांट लेवें। जिस व्यक्ति के कोई पुत्र न हो और वह मर जाये तो उसका धन पत्नी, लड़कियाँ, माता, पिता, भाई आदि में बँटे। याज्ञवल्क्य के मत में भी स्त्रियों का उचित स्थान घर ही है। मनु जैसी स्थिति ही स्त्री को याज्ञवल्क्य ने भी प्रदान की है। किन्तु डॉ. जायसवाल का मत है कि- 'मानव धर्मशास्त्र में स्त्री को प्रायः भुला दिया गया है, क्योंकि प्राचीन सामान्य धर्म का यही मत था। इस स्मृति में स्त्री को कानूनी व्यक्ति माना गया है,और यह उसे सम्पति के अधिकार की आज्ञा देती है'।7

6. स्मृतियों के बाद की समाज व्यवस्था: गुप्तकाल तक जाति-व्यवस्था अधिक कठोर न हो पायी थी। भिन्न जातियों के व्यक्तियों के बीच वैवाहिक सम्बन्ध हो जाते थे। उच्च वर्गों की स्त्रियाँ प्रशासन में भाग लेती थी और रानियाँ राजा के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करती थीं, ऐसे उदाहरण मिलते हैं। कुछ गाँव पंचायतों की अध्यक्ष स्त्रियाँ थी, ऐसी स्त्रियाँ शिक्षित होती थी और सांस्कृतिक कार्यों में भी भाग लेती थी। स्वयंवर की प्रथा द्वारा वे अपने पतियों को छांटती थी। उस काल में विभिन्न धर्म थे। हिन्दू भक्ति-सम्प्रदाय को मानते थे। वे ईश्वर की ब्रह्मा, विष्णु, महेश के रूप में भी पूजा करते थे। बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म अभी तक काफी चलन में थे। गुप्तकाल में चित्रकला, शिल्पकला व निर्माण कला आदि कलाओं का खूब विकास हुआ। आर्थिक दृष्टि से जनता बड़ी समृद्धिशाली थी, क्योंकि सारे साम्राज्य में शांति स्थापित रही, जिसने आर्थिक क्रियाओं के विकास में बड़ा योग दिया, उस काल में संस्कृत साहित्य के सर्वोतम ग्रन्थों की रचना हुई, साथ ही विज्ञान की भी उन्नति हुई।

उपयुक्त कारणों से ही गुप्तकाल को प्राचीन भारत का 'स्वर्णिम युग' कहा जा सकता है उस काल में हिन्दुओं की परम्परा पराकाष्ठा पर पहुँची। साहित्य, धर्म, कला, भवन-निर्माण कला, वाणिज्य और औपनिवेशिक विकास आदि सभी दृष्टियों से गुप्त शासन काल के 200 वर्ष का समय भारत के इतिहास में निःसन्देह सबसे महत्त्वपूर्ण युग रहा। उस युग की तुलना ब्रिटिश इतिहास के एलिजाबेथ काल तथा ग्रीस के पेरीक्लीज काल से की गई है। कुछ लेखकों ने उसे हिन्दू पुनर्जीवन का काल बताया है। उस काल की मुख्य विशेषताऐं शांति, समृद्धि व एकता तथा कला, साहित्य और धर्म के क्षेत्रों में फूल खिलनें की भाँति विकास आदि थी। उस युग में संस्कृत साहित्य की विशेष उन्नति हुई और उस काल में धार्मिक साहित्य व कलाओं का भी विकास हुआ। गुप्त शासन काल में हिन्दू धर्म को पुनर्जीवित किया गया और ब्रह्मणों का स्थान फिर ऊंचा उठा। उस युग में व्यापार और वाणिज्य के विकास से जनता की समृद्धि में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। इन्हीं कारणों से उस युग को 'स्वर्णिम युग' कहा गया है। परन्तु उसे हिन्दू पुनर्जीवन का युग न कहकर हिन्दू संस्कृति का युग कहना अधिक उचित होगा।

कामन्दक, वर्ण और आश्रम व्यवस्था को मान्यता देता है। राजा को चाहिए की वह चारों वर्णों व चारों आश्रमों को प्रतिष्ठित करे। यज्ञ करना, वेद पाठ करना, दान देना आदि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों का शास्त्रविहित सनातन सामान्य धर्म है। ब्राह्मणों को अपनी आजीविका यज्ञ कराने और वेद पढ़ाने से प्राप्त करनी चहिए; पशुपालन, कृषि और व्यापार वैश्यों की आजीविका के साधन हैं और द्विजातियों की सेवा करना शूद्रों की वृत्ति है। शुक्र ने भी वर्ण व्यवस्था को स्वीकार किया है; परन्तु उसका आधार जन्म न मानकर गुण और कर्म बताया है। उसका यह मत उस काल में प्रचलित कट्टर मत के सर्वथा भिन्न था और स्पष्ट और निश्चित रूप में उसके प्रगतिशील दृष्टिकोण का सूचक है, जो वर्तमान विचारधारा से मेल खाता है।8

जाति पद्धति में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विकास मिश्रित जातियों की संख्या में बड़ी वृद्धि था। 'मनस्मृति' में पहले चार जातियाँ बताई गई हैं, किन्तु बाद में यह स्पष्ट किया गया कि विभिन्न जातियों के बीच वैवाहिक सम्बन्ध कायम होने के कारण बड़ी संख्या में अनेक जातियों की उत्पत्ति हो गई है। एक ही जाति के जनकों की सन्तान उसी जाति की मानी जाति है, परन्तु द्विजातियों के उनसे निचली पत्नियों से जन्में बेटे पिता की जाति में ही रहते हैं, यद्यपि उन्हें अपनी माताओं के कारण दोष दिया जाता है। उच्च और निम्न जातियों के बीच अन्तर्जातीय विवाहों के परिणामस्वरूप अनेक जातियाँ बन गई हैं।

गुप्तकाल में चारों वर्णों के कर्त्तव्यों और उनके आपसी सम्बन्धों का साधारण रूप में पालन किया जाता था। हवेन सांग ने भारतीय समाज की चार आनुवांशिकी जातियों और उनके परम्परागत पेशों का वर्णन किया व यह भी कहा है कि एक जाति के सदस्य अपनी ही जाति में वैवाहिक सम्बन्ध करते हैं। परन्तु गुप्तकाल में वर्णों के बीच अन्तर्विवाह होते थे। इस काल में यद्यपि जनता साधारण रूप में स्मृतिकानून का पालन करती थी, किन्तु बाद के काल की भाँति वह कठोर न था। चीनी बौद्ध यात्रियों के अधिकारपूर्ण वर्णनों से पता लगता है कि ब्राह्मण अभी तक स्मृतियों में वर्णित उच्च समाजिक स्थिति का उपभोग करते थे।

भारत को आर्यों का समाज बनाने के लिए शासक आदेशों या उच्च जातियों द्वारा बल प्रयोग की आवश्यकता नहीं पड़ी, वरन् विभिन्न जातियों ने इच्छापूर्वक इस प्रकार की व्यवस्था को स्वीकार किया।9 परन्तु जाति पद्धति के दुष्परिणामों की अनदेखी नहीं की जा सकती। जिस रूप में जाति बाद में दिखाई पड़ी, उसने भारतीय समाज को टुकड़ों में खण्डित कर दिया और सामन्जस्यपूर्ण समाज के जन्म को रोका। इसने सामाजिक वर्गों को एक दूसरे में जाने की प्रगति रोकी; तकनीकी हुनर को कुछ वर्गों तक ही सीमित रखा और भारतीय समाज में एक बड़े वर्ग को अस्पृश्यता के शाप का शिकार बनाया।10

संदर्भ सूची

1. आर. के. मुकर्जी, 'चन्द्रगुप्ता मौर्य एन्ड हिज़ टाईमस,' 49.
2. यू. एन. घोषाल, 'ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन पालिटिक्ल आइडियाज', 529-30.
3. एन. एन. लॉ, 'अस्पैक्ट ऑफ एंनिशियंट इंडियन पॉलिटी',147.
4. आर. एस. शर्मा, 'अस्पैक्ट ऑफ पालिटिक्ल आइडियाज एंड इंनिशिट्यूशनस इन एनिशियंट इंडिया,' 183-84.
5. बेनी प्रसाद, 'थ्योरी ऑफ गर्वनमेन्ट इन एनिशियंट इंडिया', 8.
6. आर. सी. मजूमदार, 'द एज ऑफ एम्पीरियल यूनिटि', 596.
7. के. पी. जायसवाल, 'हिन्दू पॉलिटी', इन्ट्रोडेक्शन, अध्याय-21.
8. यू. एन. घोषाल, 'ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन पॉलिटीकल आइडियाज़', 497.
9. आर. सी. मजूमदार, 'द क्लासिक एज़', 516-65.
10. बी. जी. गोखले, 'एनिशियन्ट इंडिया', 132.